

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के उद्देश्यों का निर्धारण-I

जॉन व्हाइट

भूमिका :

इन दिनों राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की समीक्षा जारी है। सन् 2000 के बाद 1988 की मूल पाठ्यचर्या एक नया रूप ले लेगी। संशोधित पाठ्यचर्या के उद्देश्य किस प्रकार तय किए जाएं, यह प्रश्न हमारे सामने है।

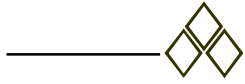
यही इस पेपर का केन्द्रीय प्रश्न है। पाठ्यचर्या के ढांचे की बारीकियों और उसके पीछे के विशेष उद्देश्यों से संबंधित प्रश्नों से भी पहले यह प्रश्न उठता है। इन दोनों मुद्दों पर भी मैं आऊंगा लेकिन मुख्य प्रश्न पर विचार करने से पहले इन मुद्दों को खोलने में एक खतरा है।

खतरा यह है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या लगभग प्रत्येक बच्चे की स्कूली शिक्षा के लिए एक कानूनी ढांचा प्रदान करती है- उन बच्चों को छोड़कर, जो निजी तौर पर शिक्षा हासिल करते हैं। और यह इंग्लैण्ड तथा वेल्स के भावी नागरिकों के शैक्षिक अनुभव और उनके भविष्य के जीवन को रूपाकार देने में मददगार होता है। इसीलिए यह एक शक्तिशाली और प्रभावशाली प्रणाली है। अगर इसमें गम्भीर खामियां रह जाती हैं तो नुकसान की जबरदस्त गुंजाइश होगी। इसीलिए निहायत जरूरी है कि जहां तक हो सके, इसके उद्देश्यों और उनसे निकलने वाले पाठ्यचर्या के विशेष निश्चित लक्ष्यों को बहुत ही कारगर ढंग से निर्धारित किया जाए।

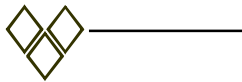
यह कतई उचित न होगा कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के नीति निर्धारक स्वयं अपने दृष्टिकोण के आधार पर तय कर लें कि किन उद्देश्यों को रखना मुनासिब है। अगर वे ऐसा करते हैं तो सवाल उठता है- उन्हीं की पसन्द के मूल्यांकों को तरजीह क्यों दी जाए ? लाखों लोगों के जीवन कुछ ही लोगों के व्यक्तिगत विवेक और परख शक्ति के मुताबिक क्यों ढलें ?

इस समस्या को मैं 'वर्गवाद' की संज्ञा दूंगा- यानी, जनसंख्या के एक वर्ग या हिस्से द्वारा तय कर दिया जाए कि स्कूली पाठ्यचर्या के उद्देश्य और उसकी मोटी रूपरेखा क्या हो। सवाल यह है कि जनसंख्या के किसी भी वर्ग के हाथ में यह ताकत क्यों हो कि वह अन्य सबके स्कूल के अनुभवों और उन अनुभवों के नतीजों को आकार दे पाए ? किस आधार पर उन्हें ऐसा करने का नैतिक अधिकार मिले ?

हां! कौन जाने कि किसी एक वर्ग के पास यह नैतिक अधिकार हो ही! सम्भवतः सरकार के नीति निर्धारकों के पास कोई विशेष ज्ञान या काबिलियत हो, जो उन्हें शिक्षा के उद्देश्यों के बारे में राय देने का अधिकारी बनाता हो ? या शायद कोई और वर्ग- जैसे, शिक्षक या अभिभावक या विश्वविद्यालयों के विद्वान- इस कार्य को अन्य लोगों से बेहतर करने की स्थिति में हों ? इस मसले पर जांच-पड़ताल किए बिना शायद हम कुछ नहीं कह सकते- कि क्या सचमुच कोई ऐसा वर्ग है जिस पर



बच्चों के स्कूली अनुभव एवं उनके भविष्य को रूपाकार देने में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या का महत्वपूर्ण स्थान होता है। शिक्षा प्रक्रिया में किन चीजों को शामिल किया जाए और उन्हें ही क्यों शामिल किया जाए; ये राष्ट्रीय बहस के मुद्दे हैं। जॉन व्हाइट का यह लेख इंग्लैण्ड के सन्दर्भ से शुरू होकर व्यापक परिप्रेक्ष्य में इस समस्या को देखता है और लेख का यह हिस्सा इस समस्या से जुझता है कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के उद्देश्यों को निर्धारित करने का हक किसे हो और क्यों हो ? यह लेख इस सन्दर्भ में विभिन्न प्रचलित सिद्धान्तों की समालोचना करता है।



लेखक परिचय : युनिवर्सिटी ऑफ लंदन के इन्स्टीट्यूट ऑफ एज्युकेशन में एज्युकेशनल फाउण्डेशन्स एण्ड पॉलिसी स्टडीज में प्रोफेसर। जर्नल ऑफ फिलोसॉफी ऑफ एज्युकेशन के संपादक मण्डल में सदस्य और ग्रेट ब्रिटेन की फिलोसॉफी ऑफ एज्युकेशन सोसाइटी के मानद उपाध्यक्ष।

प्रकाशन : द चाइल्ड्स माइण्ड, द करिक््युलम एण्ड द चाइल्ड : द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ जॉन व्हाइट, रीथिंकिंग द स्कूल करिक््युलम एण्ड द चाइल्ड : वैल्यूज, एम्स एण्ड परपजेज।

जिम्मेदाराना निर्णय लेने का भरोसा हम सब कर सकते हों- या फिर, क्या किसी भी किस्म का वर्गवाद नहीं चलेगा और हमें कहीं और से ही शुरुआत करनी होगी ?

इसीलिए, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की मौजूदा समीक्षा के तहत जिस पहले सवाल से हमें निपटना है, वह है- इस पाठ्यचर्या के उद्देश्य कैसे निर्धारित किए जाएं ? प्रणाली एवं प्रक्रिया संबंधी यही सवाल सबसे पहले देखने का है। अगर हम ऐसा नहीं करते और अगर हालात को प्रभावित करने की स्थिति में जो कोई भी है, वही उद्देश्यों और विशेष लक्ष्यों को निर्धारित करने लग जाता है, तो तुरन्त सवाल उठेंगे- उन्हीं द्वारा तय किए गए उद्देश्य क्यों ? उन्हें ऐसा करने का क्या अधिकार है ? और ये सवाल हमें वापस प्रणाली एवं प्रक्रिया संबंधी मसले पर ले जाते हैं।

1988 से पहले और उसके बाद

1988 की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की मुख्य कमजोरी थी कि वह एक विशेष किस्म की गैर-मुनासिब, वर्ग आधारित सोच की प्रतिक्रिया के तहत लाया गया लेकिन उसने भी एक अन्य किस्म की ऐसी ही सोच को स्थापित कर दिया।

1988 से पहले, सरकार के संरक्षण में चलने वाले स्कूल यह तय करने की स्थिति में थे कि उनकी पाठ्यचर्या और उद्देश्य क्या हों। कम से कम सैद्धान्तिक तौर पर तो ऐसा ही था। 'सैद्धान्तिक तौर पर' में इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि असल में तो उन पर कई तरह के नियंत्रण और दबाव रहते थे- खासकर सैकण्डरी स्कूलों के मामले में पब्लिक इम्प्टिहान की जरूरतों के हिसाब से। सैद्धान्तिक तौर पर उनके पास ये शक्तियाँ 40 से 60 साल के समयकाल में रहीं क्योंकि सैकण्डरी ग्रामर स्कूलों की पाठ्यचर्या सन् 1945 तथा प्राथमिक स्कूलों की पाठ्यचर्या 1926 से सरकारी नियंत्रण के बाहर रही है (व्हाइट, 1975)। 1960 के दशक से राजनीतिज्ञों तथा अन्य लोगों ने इन शक्तियों पर सवाल उठाने शुरू कर दिए। उन्होंने 'पाठ्यचर्या के गोपनीय उद्यान' की बात करनी शुरू की, जिसमें तब तक केवल अध्यापन के कार्य से जुड़े पेशेवर ही विचरण कर सकते थे- आम जनता को इसमें विचरण की इजाजत नहीं थी। (प्रधानमंत्री) कैलाहन ने 1976 में सबसे पहले रस्किन कॉलेज के अपने भाषण में पेशेवरों द्वारा पाठ्यचर्या के नियंत्रण को सीधी चुनौती दी। उसके बाद इसी तरह के अन्य प्रयास भी हुए- पहले उस समय की लेबर सरकार के द्वारा और फिर 1979 के बाद कन्जरवेटिव पार्टी की सरकार के द्वारा। इस सबका नतीजा था कि स्कूली शिक्षा तथा पाठ्यचर्या के मसलों में सरकार का जुड़ाव बढ़ा- जिसका निष्कर्ष 1988 का एज्युकेशनल रिफॉर्म एक्ट था, जिसने राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के लिए भी भूमिका बांधी।

इस प्रकार, 1988 से पहले जनसंख्या के एक वर्ग- स्कूल शिक्षक- के पास उद्देश्यों को तय करने की शक्तियाँ थीं जो, देखा जाए तो, उन पर पाठ्यचर्या को नियंत्रण से मुक्त करने के माध्यम से 1926 और 1945 में थोपी गई थीं। नियंत्रण मुक्त अधिकार के दौर में किसी भी समय पर- या उसके बाद भी- कोई ठोस दलील इस हक में नहीं दी गई कि पाठ्यचर्या को तय करने का अधिकार सरकार से शिक्षकों को हस्तांतरित कर दिया जाए। वास्तव में इस हक में कोई ठोस दलील तैयार करना मुश्किल ही होता। स्कूलों की पाठ्यचर्या शिक्षार्थियों के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव छोड़ सकती है (और भविष्य के समाज के रूपाकार पर भी)। इस बात को ध्यान में रखें तो सवाल उठता है कि शिक्षकों के पास ही पाठ्यचर्याओं का मोटा खाका तैयार करने और उनके समग्र उद्देश्यों को तय करने का अधिकार क्यों हो ? यह सच है कि पाठ्यचर्या की बारीकियाँ तय करने के स्तर पर शिक्षकों की बात को वजन मिलना चाहिए। इसके लिए ठोस कारण दिए जा सकते हैं- विशेष हालात में काम करते हुए व्यापक उद्देश्यों की पूर्ति तक पहुंचने के लिए कौन से रास्ते सबसे उपयुक्त होंगे, इस पर तो शिक्षक की आवाज सुनी ही जानी चाहिए। इसलिए कि, जमीनी स्तर पर काम करने वाला ही बता सकता है कि अमुक शिक्षार्थियों के साथ अमुक हालात में क्या तरीका सबसे कारगर होगा। लेकिन पाठ्यचर्या की बारीकियों और विशिष्टताओं से संबंधित यह न्यायोचित जिम्मेदारी पाठ्यचर्या के मोटे स्वरूप और ढांचे तथा उद्देश्यों के निर्धारण तक नहीं जाती। समाज के एक वर्ग को ही भावी समाज की शक्ति को आकार देने में सहायक होने का हक और ताकत क्यों मिले ? जैसा कि बीसवीं सदी के सातवें और आठवें दशक में स्पष्ट होता चला जा रहा था, इस प्रक्रिया में शामिल होने का हकदार तो प्रत्येक नागरिक था। जिस प्रकार सेना के उच्चतम जनरलों को सेना की नीति या टैक्स इन्स्पेक्टरों को राजकोष संबंधी नीति पर निर्णय लेने का अधिकार नहीं है, उसी प्रकार, एक मत के अनुसार, शिक्षकों को शिक्षा नीति तय करने का अधिकार नहीं है : पाठ्यचर्या की विषयवस्तु एक राजनीतिक मुद्दा है न कि व्यवसायी मुद्दा; इसे भी रक्षा, विदेश तथा आर्थिक मामलों संबंधी नीति की तरह राजनैतिक क्षेत्र में रखा जाना चाहिए- यह लोकतांत्रिक चुनावी प्रक्रिया से बनी सरकार के दायरे में आना चाहिए।

1988 के बाद वर्गवाद के एक रूप- शिक्षकों द्वारा पाठ्यचर्या के नियंत्रण- ने वर्गवाद के ही एक और रूप को स्थान दे दिया। नियंत्रण एवं शक्ति अब सरकार के हाथ में थे। इसका असल अर्थ था कि शिक्षा नीति जिन लोगों के नियंत्रण में थी, वे पाठ्यचर्या को भी अपनी ही इच्छानुसार तय कर सकते थे- न्यूनतम राय लेते हुए

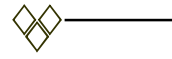
और पाठ्यचर्या में आने वाली कठिनाइयों को अनदेखा करते हुए। कुछ लोगों का कहना है कि 1988 का राष्ट्रीय पाठ्यचर्या श्रीमती थैचर के नाई की ईजाद थी- या फिर केनेथ बार्कर की पत्नी की! लेकिन जो भी हो, देश ने स्वयं को दस बुनियादी (Foundation) और तीन मूल (Core) विषयों के साथ बंधा पाया जिनसे हम सब अवगत हैं। राष्ट्र का सामाजिक और आर्थिक भविष्य अब बोअर युद्ध के पश्चात् लागू किए गए सैकेण्डरी (यानी ग्रामर) स्कूल की पाठ्यचर्या के ही नवीन संस्करण पर निर्भर था। जहां तक सरकार की देखरेख में चलने वाले स्कूलों की पाठ्यचर्या के उद्देश्यों का सवाल है, उनके लिए 1988 के एज्युकेशनल रिफॉर्म एक्ट में केवल दो लाइनें ही थीं- और यह बात राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर भी लागू होती है। ये उद्देश्य थे- 'स्कूलों में पढ़ रहे शिक्षार्थियों एवं समाज के आध्यात्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक, मानसिक तथा शारीरिक विकास को बढ़ावा देना; इन शिक्षार्थियों को वयस्क जीवन के मौकों, जिम्मेदारियों तथा अनुभवों के लिए तैयार करना।' स्कूलों पर डाली गई इस नई कानूनी आवश्यकता की व्याख्या करना मुश्किल था- जैसा कि 'आध्यात्मिक विकास' पर 1988 के बाद से निकाले गए लाखों कम्प्यूटरीकृत शब्दों से सिद्ध होता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट नहीं था कि ये उद्देश्य किस प्रकार बुनियादी विषयों के लिए तर्काधार देते हैं- इतिहास, तकनीक, गणित तथा अन्य विषय किस प्रकार आध्यात्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक विकास में योगदान देते हैं ? इस बारे में 1988 में किसी ने कोई जानकारी नहीं दी; किसी को आज भी कुछ नहीं पता।

क्या वर्गवाद से बचा जा सकता है ?

नियंत्रण पेशेवर लोगों के हाथ से लोकतांत्रिक ढंग से चुनी गई सरकार के हाथ में चला गया, लेकिन वर्गवाद से फिर भी नहीं बचा जा सका। फर्क केवल इतना था कि पत्ते अब एक भिन्न वर्ग के लोगों के हाथ में थे- शिक्षा के विस्तृत लेकिन मुकाबलतन ढीले-ढाले प्रतिष्ठानों के ढांचे का स्थान 1988 की शिक्षा नीति के लिए जिम्मेदार राजनीतिज्ञों के छोटे से समूह ने ले लिया। लेकिन भविष्य का क्या ? एक नई सरकार सत्ता में है। क्या वह राजनीति के फुटबॉल को अपने ढंग से घुमाएगी और स्कूलों के उद्देश्यों को अपनी इच्छा और तरजीह के हिसाब से बदल देगी ? यदि हां, तो क्या वह एक तरह के वर्गहित को दूसरी तरह के वर्गवाद के स्थान पर लाने से बच पाएगी ?

◆◆◆

आइलिंग्टन के विलियम टिण्डल स्कूल के शिक्षकों का मानना था कि क्या सीखने लायक है, इस बारे में वयस्कों की सोच, उनकी तरजीह, बच्चों पर बिल्कुल भी न थोपी जाए- और यह मान्यता केवल इस स्कूल के शिक्षकों की ही नहीं थी। समरहिल की तर्ज पर माना जा रहा था कि बच्चे आजाद होने चाहिएं- यह तय करने के लिए कि वे क्या सीखना चाहते हैं। और अगर वे कुछ भी न सीखना चाहते हों, तो यह भी उन पर छोड़ दिया जाना चाहिए।



स्कूल पाठ्यचर्या एवं मूल्यांकन प्राधिकरण (The School Curriculum and Assessment Authority - SCAA), जिसे अब योग्यता एवं पाठ्यचर्या एजेन्सी (The Qualifications and Curriculum Agency - QCA) कहा जाता है, ने जनवरी 1997 में शिक्षा के उद्देश्यों को भविष्य में सोच-विचार के मुद्दे के तौर पर चिह्नित किया था। यह लेबर सरकार के चुने जाने से पहले की बात है। **क्यूसीए (QCA)** ने अब इस क्षेत्र में 'व्यापक परामर्श के माध्यम से स्कूली पाठ्यचर्या के उद्देश्यों पर आम राय' बनाने के लिए एक बड़ा अभियान छेड़ा है (**क्यूसीए, 1997**)। इस मत को उचित माना गया है कि 1988 में चिह्नित उद्देश्य कसौटी पर खरे नहीं उतरते थे तथा उन पर आवश्यक बहस भी नहीं हुई थी। अब पूरी पाठ्यचर्या के लिए 'सुसंगत तर्काधार' तथा उसके उद्देश्यों पर एक 'स्पष्ट विवरण एवं वक्तव्य' की तलाश है। इसमें उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रत्येक

चरण पर भी रोशनी डाली जाएगी और यह संकेत भी मिलेंगे कि प्रत्येक विषय किस प्रकार उद्देश्यों की प्राप्ति में अपना योगदान दे सकता है।

इस सबका स्वागत है। लगता है कि 1988 से सबक सीख लिए गए हैं। प्रतीत होता है कि लगभग नगण्य सलाह-मशविरे पर आधारित आदेश का स्थान व्यापक आम राय पर आधारित, सुविचारित उद्देश्यों द्वारा लिया जाएगा। अभी यह स्पष्ट नहीं है कि अन्तिम फैसले में सरकार के मंत्रियों की क्या भूमिका रहेगी ? अन्तिम शक्ति चाहे कुछ भी निकलकर आए लेकिन केन्द्रीय सवाल तो फिर भी बना रहेगा- क्या वर्गवाद से बचा जा सकता है ? क्या स्कूली पाठ्यचर्या के परिवर्तित और संशोधित उद्देश्य जनसंख्या के एक वर्ग द्वारा तय किए जाएंगे ? - सरकार के मंत्रियों, परामर्श की प्रक्रिया को संचालित करने वाले **क्यूसीए** के अधिकारियों तथा विभिन्न घटकों की राय ली जाएगी ? यदि कुछ ही सालों में सरकार बदल जाती है तो क्या नियंत्रण और ताकत किसी अन्य वर्ग या वर्गों के हाथ में चले जाएंगे ?

वर्गवाद के विरोध का हाल का इतिहास

पिछले 30 सालों में एक प्रकार के वर्गवाद से बचने की अलग-अलग कोशिशें होती रही हैं। इन कोशिशों से हम क्या सीख सकते हैं ? मैंने 'एक प्रकार के वर्गवाद' का जिक्र किया है- क्योंकि राष्ट्रीय

पाठ्यचर्या के वर्ग आधारित नियंत्रण से बचकर निकलने की समस्या हाल में ही हमारे सामने आई है। लेकिन 1988 से पहले भी तो स्कूलों की पाठ्यचर्या होती थी (चाहे वे राष्ट्रीय पाठ्यचर्या न भी हों)- उनके उद्देश्यों तथा विषयवस्तु को भी तो किसी न किसी तरह तय किया जाता था। वर्ग आधारित नियंत्रण की समस्या तब भी शिक्षा के परिदृश्य का हिस्सा थी। सैद्धांतिक तौर पर तो स्कूल अपनी पाठ्यचर्या तय करने के लिए आजाद थे। लेकिन प्रधानाध्यापकों या वरिष्ठ अध्यापकों को अपनी विचारधारा के मुताबिक या परंपरागत ढर्रे पर कार्य करने के लगाव के चलते मनमाने ढंग से पाठ्यचर्या तय करने और उसे स्कूल पर लादने से कौन रोक सकता था ? क्या पाठ्यचर्या निर्धारित करने का कोई वस्तुपरक आधार मौजूद था ?

बच्चा-केन्द्रित बन्द गली

1970 के दशक में एक रास्ता था जिसने कुछ लोगों को आकर्षित किया- हालांकि प्राथमिक शिक्षा के जगत में वह उल्लेखनीय ढंग से मशहूर हुआ। आइलिंग्टन के विलियम टिण्डल स्कूल के शिक्षकों का मानना था कि क्या सीखने लायक है, इस बारे में वयस्कों की सोच, उनकी तरजीह, बच्चों पर बिल्कुल भी न थोपी जाए- और यह मान्यता केवल इस स्कूल के शिक्षकों की ही नहीं थी। समरहिल की तर्ज पर माना जा रहा था कि बच्चे आजाद होने चाहिएं- यह तय करने के लिए कि वे क्या सीखना चाहते हैं। और अगर वे कुछ भी न सीखना चाहते हों, तो यह भी उन पर छोड़ दिया जाना चाहिए। वर्गवाद से बचने का यह तरीका सफल नहीं हो सकता, क्योंकि वह छोटे बच्चों को स्वायत्त, स्वतन्त्र वयस्कों के बराबर समझता है, दोनों को एक समान स्तर पर ला खड़ा करता है। हमारे समाज जैसे उदारवादी लोकतांत्रिक समाज का मूल सिद्धान्त है कि आदर्श रूप में लोग अपने जीवन को चलाने में आत्म-निर्देशित हों, वे स्वयं अपने जीवन को अपने ढंग से संचालित कर पाएं- लोगों को नियंत्रित करने के पितृसत्तात्मक प्रयासों को नकारा जाना चाहिए। लेकिन यह बात वयस्कों पर लागू होती है- यानी उन पर, जो उस सोच और समझदारी से लैस होते हैं जिसकी जरूरत जीवन के अलग-अलग क्षेत्रों में महत्वपूर्ण फैसले लेने या चुनाव करने के लिए होती है। ग्यारह साल से कम उम्र के बच्चे आमतौर पर ऐसी समझदारी से लैस नहीं होते। इस समझदारी को वे हासिल कर लें, इसी मकसद से तो एक अनिवार्य पाठ्यचर्या उन पर लागू की जाती है।

अकादमी विशेषज्ञता : एक और बन्द गली ?

वर्गवाद से निपटने का दूसरा तरीका अधिक आशाजनक दिखाई पड़ता था। इसके अंतर्गत छात्रों की बजाए शिक्षा क्षेत्र के विशेषज्ञों

का रुख किया गया। अगर जरूरत पाठ्यचर्या के वस्तुपरक आधार की हो, तो शिक्षाशास्त्रियों से उम्मीद क्यों न रखी जाए ? दार्शनिकों और मनोविज्ञान के विशेषज्ञों की सेवाएं ली गईं। पहल कदमी हमेशा उन्हीं की ओर से नहीं हुई। 1960 के दशक में (और उसके बाद भी) पियाजे का बोधात्मक विकास (Cognitive Development) का सिद्धान्त ब्रिटेन की प्राथमिक शिक्षा में एक महत्वपूर्ण वर्गवाद विरोधी साधन था। लेकिन खुद पियाजे ने अपने सिद्धान्त को इस क्षेत्र में प्रयोग में लाने के लिए कुछ नहीं किया। 1990 के दशक में हॉवर्ड गार्डनर के बहुविध बुद्धिमत्ता के सिद्धान्त (Theory of Multiple Intelligences) को भी इसी प्रकार इस्तेमाल किया गया जबकि स्वयं गार्डनर ने आश्चर्य व्यक्त किया कि शिक्षा जगत ने उनके इस सिद्धान्त की ओर इतना ध्यान दिया है। 1960 के दशक में रिचर्ड पीटर्स और पॉल हर्स्ट के सिद्धान्तों- 'लाभकारी गतिविधियां' (Worthwhile Activities) और 'ज्ञान की श्रेणियां' (Forms of Knowledge)- को कुछ हल्कों में अहमियत दी गई है- पाठ्यचर्या की योजना बनाने के लिए वस्तुपरक, ठोस आधार के तौर पर।

शिक्षक और नीति निर्धारक इस बात से चिन्तित रहते हैं कि उनके हाथ में एक बड़ी ताकत है- अन्य लोगों के जीवन को प्रभावित करने, उसे रूपाकार देने की ताकत। इसलिए यह समझना आसान है कि किस प्रकार वे अनुभव आधारित विज्ञान की खोजबीन और जांच-पड़ताल या तर्कशास्त्र की अनिवार्यताओं पर आधारित विशेषज्ञता की ओर खुशी-खुशी मदद के लिए मुड़ते हैं। काम करने की प्रक्रिया के दौरान बहुत बार स्वयं द्वारा समर्थित सिद्धान्त की ठोसता या विश्वसनीयता का मूल्यांकन कर पाना मुश्किल होता है। बारीकी से छानबीन किए जाने पर उपरोक्त चारों सिद्धान्त- तथा अन्य ऐसे ही गुरु ज्ञान सरीखे सिद्धान्त, जैसेकि चोम्स्की के सिद्धान्त भी- निराधार पाए जाते हैं। पियाजे आधारित मनोविज्ञान वर्गवाद से बचता हुआ प्रतीत होता है क्योंकि माना जाता है कि बच्चों के दिमाग के विकास की दिशा जीव विज्ञान द्वारा निर्धारित की जाती है। लेकिन पियाजे आधारित मनोविज्ञान असफल हो जाता है। इस असफलता का कारण जीव विज्ञान का वह मॉडल है जिस पर पियाजे आधारित मनोविज्ञान टिका हुआ है- जिसमें जीव अलग-अलग चरणों में अपने ही अधिक जटिल रूपांतरों में खुलता और प्रकट होता चला जाता है। जीव विज्ञान का यह मॉडल पौधों और मानव शरीर पर तो शायद लागू किया जा सकता है लेकिन मानव पर नहीं- मानव मन पर लागू किए जाते ही उसमें अस्पष्टता आ जाती है, वह असंगत हो जाता है (हेमलिन, 1967)। हॉवर्ड गार्डनर के मौजूदा लोकप्रिय सिद्धान्त के मुताबिक बुद्धिमत्ता (Intelligence) को

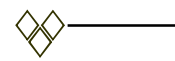
तर्कशास्त्र और गणित की किस्म तक सीमित नहीं किया जा सकता (जिसे *आई क्यू* के आधार पर परखा जा सकता है) बल्कि वह तो बहुविध है- सात (या इससे भी अधिक) किस्म की 'बुद्धिमत्ता' होती हैं- भाषाई (Linguistic), संगीत संबंधी (Musical), स्थानीय (Spatial), गतिसंवेदी (Kinaesthetic), अन्तर वैयक्तिक (Inter-personal) और शायद प्रकृति वैज्ञानिक (Naturalist) तथा आध्यात्मिक (Spiritual) भी। यह देख-समझ पाना मुश्किल नहीं है कि कैसे और क्यों वस्तुपरक, विज्ञान आधारित वर्गीकृत पाठ्यचर्या की तलाश करने वाले लोग इस प्रकार के दृष्टिकोण की ओर आकर्षित होंगे। लेकिन ऐसे लोगों का दुर्भाग्य है कि पियाजे के सिद्धान्त की ही तरह

यह सिद्धान्त भी छानबीन और जांच-पड़ताल होने पर बिखर जाता है। बुद्धिमत्ता केवल *आई क्यू* की किस्म की ही नहीं होती बल्कि वह कई शकलें अख्तियार करती है- यह दावा बहुत हद तक ठोस है, लेकिन इन सब किस्मों को गार्डनर द्वारा प्रतिपादित श्रेणियों के बाड़े में ही घेरने-इकट्टा करने की कोई ठोस वजह नहीं बनती। फुटबाल के खिलाड़ी द्वारा साधनों को अपने उद्देश्यों के मुताबिक अलग ढंग से ढाला जाएगा, ट्रेवल एजेन्ट या टाउन प्लानर यही काम बिल्कुल अलग ढंग से करेगा- साधनों को उद्देश्यों के मुताबिक ढालने के लचीलेपन में भी अन्तर होगा। गार्डनर जिन मापदण्डों पर निर्भर करते हैं, बारीकी से की गई उनकी छानबीन से स्पष्ट हो जाता है कि ये मानक काफी समस्याग्रस्त हैं (व्हाईट, 1998)।

आमतौर पर मनोविज्ञान-विशेषज्ञ के इर्द-गिर्द विज्ञान की प्रतिष्ठा का एक प्रभामण्डल-सा बन जाता है। लेकिन कुछ लोग इससे आकर्षित नहीं होते- शिक्षा के विशेषज्ञ के रूप में वे मनोविज्ञान-विशेषज्ञ के बजाए दर्शनशास्त्री की ओर देखते हैं। 1960 के दशक में रिचर्ड पीटर्स की रचनाओं ने बहुतों को एक बात पर राजी किया- कि शिक्षा के विचार और संकल्पना में ही अन्तर्निहित है कि शिक्षार्थियों को ऐसी 'लाभकारी गतिविधियों' में डाला जाए जिनका संबंध सत्य की खोज से है। सत्य की यह खोज विज्ञान, इतिहास, साहित्य और दर्शनशास्त्र जैसे क्षेत्रों में की जा सकती है और यही शिक्षा का तर्कसंगत अर्थ है (पीटर्स, 1966)। तत्पश्चात्, इस सिद्धान्त की समीक्षा की गई और इशारतन यह कहा गया कि पीटर्स ने शिक्षा के सार और तत्व की बात नहीं की है बल्कि वे तो एक विशेष प्रकार की शिक्षा के प्रति अपने झुकाव और पूर्व

अभिरुचि को अपने सिद्धान्त में जगह दे रहे हैं- और यह अभिरुचि है ज्ञान और अध्ययन के लिए ही ज्ञान और अध्ययन पाना। 1960 और 1970 के दशकों में पीटर्स के साथी पॉल हर्स्ट के उदारवादी शिक्षा के सिद्धान्त (हर्स्ट 1974) का असर तो शिक्षकों, इंस्पेक्टोरेट तथा अन्य नीति निर्धारकों पर और भी अधिक रहा। गार्डनर के बहुविध बुद्धिमत्ता के सिद्धान्त की ही तरह हर्स्ट के सिद्धान्त में भी तार्किक आधार पर सात या आठ विभिन्न 'ज्ञान या समझ के रूप' चिह्नित किए गए : गणित, भौतिक विज्ञान, मानव विज्ञान, इतिहास, साहित्य तथा ललित कलाएं, दर्शनशास्त्र, नैतिक ज्ञान तथा सम्भवतः धार्मिक ज्ञान। 'उदारवादी शिक्षा' का अर्थ था इन सभी 'रूपों' से

संबद्ध सोच-विचार करने के विभिन्न तौर-तरीकों से अवगत होना। यह ज्ञानार्जन केवल इस वजह से नहीं होगा कि उससे कोई लाभ उठाया जा सके या वह किसी रूप में सहायक हो (जैसे कि व्यवसाय का चुनाव करने में सहायक होना)- पीटर्स के सिद्धान्त की ही तरह यह ज्ञानार्जन भी 'ज्ञान के लिए ज्ञान' वाले नुस्खे पर ही आधारित है। यह समझ में आता है कि ऐसा दृष्टिकोण पाठ्यचर्या निर्माताओं को आकर्षित कर सकता है, खासतौर से उन्हें जो कमोबेश पारंपरिक ढर्रे के शैक्षिक और पंडिताऊ पाठ्यचर्या के लिए औचित्य या आधार की तलाश में हों। हर्स्ट का सिद्धान्त तो, एक अरसा हुआ, शैक्षिक जगत की धूल चाट चुका है। अगर उन द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के सभी विभिन्न रूपों के अस्तित्व को सिद्ध किया जा सके (हालांकि शक है कि ऐसा सम्भव होगा) तो भी, शिक्षा के उद्देश्यों को इन्हीं के गिर्द क्यों बुना जाए ? ऐसा क्या जरूरी है कि अकादमिक, चिन्तनप्रधान विषयों से संबंधित ज्ञान (जो



◆◆◆

बुद्धिमत्ता केवल *आई क्यू* की किस्म की ही नहीं होती बल्कि वह कई शकलें अख्तियार करती है- यह दावा बहुत हद तक ठोस है, लेकिन इन सब किस्मों को गार्डनर द्वारा प्रतिपादित श्रेणियों के बाड़े में ही घेरने-इकट्टा करने की कोई ठोस वजह नहीं बनती। फुटबाल के खिलाड़ी द्वारा साधनों को अपने उद्देश्यों के मुताबिक अलग ढंग से ढाला जाएगा, ट्रेवल एजेन्ट या टाउन प्लानर यही काम बिल्कुल अलग ढंग से करेगा- साधनों को उद्देश्यों के मुताबिक ढालने के लचीलेपन में भी अन्तर होगा।

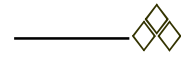
मूलभूत, अन्तरंग कारणों से हासिल किया जाए) ही शिक्षा के केन्द्र में हो ? चरित्र निर्माण या शिक्षार्थी को सामाजिक तौर पर भरा-पूरा लाभकारी जीवन जीने की कला से लैस करना क्यों शिक्षा के मूल में नहीं हो सकता ? हर्स्ट ने स्वयं भी अपने शुरुआती विचारों को त्याग कर ऐसी शिक्षा के हक में बात की जो रोजमर्रा के 'सामाजिक व्यवहार तथा प्रथाओं' के ज्यादा नजदीक हो, अकादमिक न हो। लगता था कि ये दार्शनिक या मनोविज्ञान आधारित सैद्धांतिक सोच की धाराएं वर्गवाद विरोधी स्वयं को बल देंगी लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। मुझे एहसास है कि इस छोटे से पेपर में मैं इन धाराओं की

समालोचनात्मक समीक्षा के तौर पर अधिक कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूँ और पाठकों को मेरी बात विश्वास पर लेनी होगी। यह कुछ हद तक विरोधाभासपूर्ण भी लग सकता है क्योंकि मेरा मुख्य तर्क यह रहा है कि शिक्षकों और नीति निर्धारकों ने अकसर 'विशेषज्ञों' पर बहुत अधिक विश्वास किया है। मुझे उम्मीद है कि यहां पर दी गई अधिक भरी-पूरी समीक्षाओं के संदर्भ और हवाले इस कमी को कुछ हद तक पूरा करेंगे।

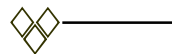
इस बात की कम ही उम्मीद है कि शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त पाठ्यचर्या का वह वस्तुपरक विवरण मुहैया करवा पाएं जिसकी तलाश में बहुत लोग रहे हैं। इसकी एक अच्छी वजह भी है- शिक्षा के आधारभूत सैद्धान्तिक विचार का लक्ष्य सत्य तक पहुंचना है। इससे लग सकता है कि शैक्षिक सिद्धान्त आवश्यक वस्तुपरकता के लिए आदर्श रूप से उपयुक्त और अनुकूल है। लेकिन यह हमारा भ्रम है। मनोविज्ञानी इस सत्य की छानबीन करते हैं कि मन कैसे काम करता है; दार्शनिक की सत्य की खोज धारणाओं, संकल्पनाओं के आपसी जुड़ाव से संबंधित है- वे बहस तथा वाद-विवाद की मजबूती को भी परखते हैं। लेकिन न तो वे और न ही कोई अन्य शैक्षिक सिद्धान्तशास्त्री जीने की कला के विशेषज्ञ हैं। वे इस बात के जानकार भी नहीं हैं कि व्यक्तिगत और सामुदायिक तौर पर फलना-फूलना किस बात में निहित है। लेकिन यही तो है जो पाठ्यचर्या और उसके उद्देश्यों के मूल में होता है। यहां हम मूल्यों के क्षेत्र में हैं, उन मूल्यों के क्षेत्र में जिनके आधार पर हमें अपना जीवन संचालित करना चाहिए- यह क्षेत्र तर्क या मनोविज्ञान के तथ्यों का नहीं है। यह सही है कि शायद अधिकतर मनोविज्ञानियों के मुकाबले शिक्षा क्षेत्र के दार्शनिक मूल्यों के संसार की जांच-पड़ताल करते हैं, भेदों और अन्तर्संबंधों की खोज में रहते हैं और उन्हें सांस्कृतिक क्षितिज के साथ जोड़ते-संबद्ध करते हैं। लेकिन नैतिक मूल्यों को या अच्छे, स्वस्थ जीवन की परिकल्पना को, बेहतर ढंग से समझ पाने की क्षमता उन्हें प्रशंसनीय नैतिक जीवन जीने या दूसरों को ऐसा जीवन जीने संबंधी निर्देश देने योग्य नहीं बना देती।

बाजार का आकर्षण

पाठ्यचर्या के राजनैतिक नियंत्रण के विरोधी कभी-कभी बाजार को एक विकल्प के तौर पर देखते आए हैं। यानी, उद्देश्यों और विषयवस्तु से संबंधित बुनियादी निर्णय लेने की जिम्मेदारी उपभोक्ता की है- और यहां उपभोक्ता के रूप में परिवार हैं। जिस प्रकार पंसारी के सामान के खरीददार या फर्नीचर के खरीददार स्वयं यह तय करने की बेहतर स्थिति में होते हैं कि उनकी आवश्यकताएं क्या हैं, इसी प्रकार मां-बाप भी कमोबेश सबसे बेहतर बता सकते हैं कि उनके बच्चों के लिए कैसी शिक्षा उपयुक्त होगी। मौजूदा सिस्टम के बाजार आधारित विकल्प में वे बहुत से स्कूलों में से चुनाव कर पाएंगे- संभवतः सभी सरकारी स्कूलों में से या फिर निजी स्कूलों में से- कि किस स्कूल का रुख और रुझान उनके बच्चे के लिए उपयुक्त होगा। हां, विकल्पों के बारे में पर्याप्त जानकारी उनके पास होनी होगी। यह उन्हें परीक्षा परिणामों तथा अन्य ऐसे ही सूत्रों से मिल सकती है। कुछ परिवार यह तय कर पाने के लिए शायद पूरी तरह लैस न हों- उन्हें उपभोक्ता के दृष्टिकोण से उपयुक्त मार्गदर्शन मिल सकता है, संभवतः 'कौन सा स्कूल सबसे अच्छा' के मॉडल पर।



बच्चों की शिक्षा के संबंध में मां-बाप के प्रबल विचार और दृष्टिकोण होंगे। धार्मिक प्रवृत्ति के मां-बाप एक खास तरह का धार्मिक आधार लिए हुए शिक्षा की चाह रख सकते हैं; शान्तिप्रिय, युद्ध विरोधी विचार वाले मां-बाप शान्ति का पाठ पढ़ाने वाली शिक्षा की। लेकिन मां-बाप की पसन्द को ही सर्वोपरि क्यों माना जाए, वही सबसे महत्त्वपूर्ण क्यों मानी जाए ? यह सब हमें बाजार के मॉडल में निहित अस्पष्टता की ओर ले जाता है। यह मॉडल उपभोक्ता की संप्रभुता पर आधारित है, वह चाहे पंसारी की दुकान पर हो या फिर शिक्षा के मसले पर। लेकिन शिक्षा के क्षेत्र में उपभोक्ता कौन है ? परिवार या बच्चा ?



इस प्रक्रिया के माध्यम से वर्गवाद के खतरों से बचा जा सकता है- खतरे जो हमने 1988 में चरितार्थ होते देखे। इस प्रक्रिया में पेशेवर नियंत्रण के वर्गवाद से भी बचा जा सकेगा। स्कूल अब भी अपनी पाठ्यचर्या के एजेन्डा तय करेंगे लेकिन 1988 से पहले के पेशेवर नियंत्रण के विपरीत, वे इस एजेन्डा को शिक्षार्थियों तथा परिवारों पर उनकी मर्जी के विरुद्ध जाकर थोप नहीं पाएंगे।

बाजार वाला हल कुछ प्रकार के वर्गवाद से बचाव करता है लेकिन सब प्रकार के वर्गवाद से नहीं, क्योंकि जनसंख्या का एक वर्ग (परिवार) अब भी उद्देश्यों संबंधी महत्त्वपूर्ण निर्णय लेता है। छोटे बच्चे अपनी पाठ्यचर्या को तय करने की स्थिति में नहीं होते- इसका अर्थ है कि प्रभावी तौर पर यह निर्णय माता-पिता लेंगे। ऐसे महत्त्वपूर्ण निर्णय मां-बाप पर क्यों छोड़ दिए जाएं ? यदि उनके पास अपने बच्चों के लिए उपयुक्त, आदर्श जीवन के बारे में कोई ठोस, प्रामाणिक अन्तर्दृष्टि हो,

तब तो उन्हें इस अधिकार का मिलना समझ में आता है। लेकिन केवल मां-बाप होने से ही यह अन्तर्दृष्टि उनमें नहीं आ जाएगी। जैसा कि हमने देखा, शिक्षा के सिद्धान्तशास्त्री अच्छे जीवन के बारे में विशेषज्ञ नहीं हैं- इसी प्रकार मां-बाप में भी यह विशिष्टता नहीं है।

माता-पिता पर आधारित वर्गवाद अन्य सभी को- जो मां-बाप नहीं हैं- उद्देश्यों संबंधी निर्णयों में हिस्सेदारी से अलग कर देता है। वह अन्य माता-पिता के बच्चों को प्रभावित करने वाले निर्णयों में हिस्सेदारी से भी माता-पिता को वंचित करता है। यह बात उस नजरिए के विरुद्ध जाती है जिसके तहत नागरिक के तौर पर हमारे राजनैतिक समुदाय के फलने-फूलने में हम सबका लाभ और दिलचस्पी है। यह तभी सम्भव है, यदि हममें से प्रत्येक इस बात में निवेश करे कि हमारी आने वाली पीढ़ियां कैसे बढ़ें-पढ़ें।

स्वाभाविक है कि बच्चों की शिक्षा के संबंध में मां-बाप के प्रबल विचार और दृष्टिकोण होंगे। धार्मिक प्रवृत्ति के मां-बाप एक खास तरह का धार्मिक आधार लिए हुए शिक्षा की चाह रख सकते हैं; शान्तिप्रिय, युद्ध विरोधी विचार वाले मां-बाप शान्ति का पाठ पढ़ाने वाली शिक्षा की। लेकिन मां-बाप की पसन्द को ही सर्वोपरि क्यों माना जाए, वही सबसे महत्वपूर्ण क्यों मानी जाए ? यह सब हमें बाजार के मॉडल में निहित अस्पष्टता की ओर ले जाता है। यह मॉडल उपभोक्ता की संप्रभुता पर आधारित है, वह चाहे पंसारी की दुकान पर हो या फिर शिक्षा के मसले पर। लेकिन शिक्षा के क्षेत्र में उपभोक्ता कौन है ? परिवार या बच्चा ? स्पष्ट है कि शिक्षा हासिल करने वाला तो बच्चा है। कुछ मसलों पर जब बच्चा स्वतन्त्र रूप से चुनाव करने की स्थिति में नहीं होता तो उसके लिए निर्णय मां-बाप लेते हैं। वे तय करते हैं कि बच्चा कहां रहेगा। जब बच्चा बहुत कम उम्र का होता है तो मां-बाप ही तय करते हैं कि वह क्या खाएगा या कैसे वस्त्र पहनेगा- ये मूल आवश्यकताओं से जुड़ी बातें हैं। लेकिन जब हम बड़े फैसलों का रुख करते हैं- जैसे, जीवन कैसे जीया जाना चाहिए ?- तो क्या तब भी बच्चे के लिए मां-बाप ही निर्णय लेंगे ? क्या एक उदारवादी-लोकतांत्रिक समाज के नागरिक के तौर पर बच्चे को अपने जीवन की मोटी रूपरेखा पर निर्णय करने लायक होना चाहिए ? यदि हां, तो मां-बाप को बच्चों के आत्म-निर्देशन की प्रक्रिया में बाधा नहीं डालनी चाहिए। नौजवान लड़के-लड़कियां अपने मां-बाप के पूर्वाग्रहों से सुरक्षित होने चाहिएं- अच्छे जीवन का मां-बाप का तसव्वुर अगर तंग नजरिया है, दिमाग के दरवाजे बन्द करने वाला है तो आत्म-निर्देशन की प्रक्रिया में वह बाधा ही उत्पन्न करेगा।

आम राय की तलाश में

वर्गवाद से बचने का एक और अच्छा तरीका हो सकता है- पूरे समुदाय में उद्देश्यों के बारे में सहमति बनाना। इस प्रकार, सब वर्गों की सुनवाई होगी, कोई छूटेगा नहीं। मसलन, मां-बाप अपनी बात रख सकते हैं- और शिक्षक, शिक्षा से जुड़े हुए अन्य पेशेवर भी और लोक अधिकारी भी। व्यापारी और कारोबारी लोगों की राय भी ली जा सकती है। इस प्रक्रिया में धार्मिक समूह, अल्पसंख्यक समुदाय तथा ऐसे ही अन्य वर्ग भी शामिल हो सकते हैं।

वर्तमान में **क्यूसीए** द्वारा कमोबेश यही उदार दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है हालांकि आवश्यक नहीं कि वह ऊपर वर्णित वर्गों पर ही आधारित हो। हाल ही में उस द्वारा जारी किए गए वक्तव्य स्कूली पाठ्यचर्या के उद्देश्य 5-16 (**क्यूसीए**, 1997), के मुताबिक इस मसले पर और अधिक खुलेपन की दरकार है कि स्कूलों को क्या करना चाहिए।

इस प्रकार **क्यूसीए** व्यापक स्तर पर सलाह-मशविरे के माध्यम से स्कूली पाठ्यचर्या पर आम सहमति के लिए प्रयासरत रहेगा। इसमें विशेष तौर से निम्नलिखित बातें शामिल होंगी :

- स्कूली पाठ्यचर्या के आमतौर पर स्वीकार्य उद्देश्यों पर स्पष्ट वक्तव्य- पूर्णरूप से तथा प्रत्येक महत्वपूर्ण चरण के लिए भी।
- इस बात का संकेत कि प्रत्येक क्रम के विषयों तथा लिखित कानून के अनुसार निर्दिष्ट आवश्यकताओं को शामिल रखते हुए किस प्रकार राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पूर्णरूप से तथा महत्वपूर्ण चरणों संबंधी उद्देश्यों की पूर्ति में योगदान देगी।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत हाल ही में **क्यूसीए** ने सभी स्कूलों को एक प्रश्नावली भेजी जिसे 1 दिसम्बर, 1979 तक लौटाया जाना है। इसमें प्रमुख चरणों 1 से 4 तक की स्कूली पाठ्यचर्या संबंधी उद्देश्यों पर उनकी सोच एवं दृष्टिकोण से जुड़ी जानकारी ली जा रही है। इसी मसले पर सेमिनार भी किए गए हैं जिनमें प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों के मुख्याध्यापकों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। अन्य पहल-कदमियां भी हुई हैं, जैसे अन्य देशों से शिक्षा के उद्देश्यों की जानकारी प्राप्त करना और माता-पिता, शिक्षार्थियों तथा व्यापारी समुदाय से प्रस्तावित सलाह-मशविरे।

क्यूसीए का इरादा है कि सलाह-मशविरे के इस सिलसिले से प्राप्त नतीजों की एक रिपोर्ट सैक्रेटरी ऑव स्टेट फॉर एज्युकेशन को अप्रैल 1998 तक दे दी जाए। यानी **क्यूसीए** स्वयं, सीधे तौर पर इन नतीजों को नीतिगत बदलावों में समाहित नहीं करेगी- जबकि इससे पूर्व की एजेन्सी **एससीएए** नैतिक मूल्यों पर आम सहमति बनाने की कोशिशों के तहत ऐसा कर पाई थी।

एससीएए ने 1996 में 'शिक्षा एवं समुदाय में मूल्यों के लिए राष्ट्रीय फोरम' (National Forum for Values in Education and in the Community) की स्थापना की थी। इसमें 150 लोग थे जिनमें से अधिकतर युवाओं या शिक्षा को महत्त्व देने वाली राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा मनोनीत किए गए थे। इसमें 'अध्यापन से जुड़े लोग, स्कूल गवर्नर, माता-पिता, शिक्षक-प्रशिक्षक, मुख्य धर्मों से जुड़े प्रतिनिधि, कानून से जुड़े लोग, मीडिया, युवा कार्यकर्ता और नौकरी-मालिक शामिल थे' (**एससीएए**, 1996)। इस फोरम को एक मुख्य निर्देश था- **एससीएए** का इस बात पर पथ प्रदर्शन करना कि 'किस हद तक उन मूल्यों, दृष्टिकोणों और आचरण पर सहमति है जिन्हें स्कूलों द्वारा समाज की ओर से बढ़ावा मिलना चाहिए' (पूर्वोक्त)। फोरम ने पाया कि ऐसे साझा मूल्यों पर उसके सदस्यों में काफी हद तक सहमति थी। रिपोर्ट में ऐसे मूल्य चार मुख्य क्षेत्रों से संबद्ध थे : समाज, रिश्ते, आत्मा और पर्यावरण तथा सत्य, मानवाधिकार, लोकतांत्रिक भागीदारी, दूसरों के मान-प्रतिष्ठा के प्रति आदरभाव, सहयोग की भावना, खुद की समझ, प्राकृतिक संसार को आश्चर्य, विस्मय और प्रेरणा के स्रोत के रूप में सराहने का भाव होना जैसी बातें इसमें शामिल थीं। सदस्यों में इन मूल्यों के स्रोत को लेकर सहमति नहीं थी- कुछ इनका उद्भव ईश्वर से मानते थे, अन्य इंसान की फितरत में, लेकिन इस मतभेद के बावजूद मूल्यों पर उनमें सहमति बन पाई। **एससीएए** के मुख्य प्रबंधक निक टेट तथा राष्ट्रीय फोरम के कार्य को आगे ले जाने के लिए जिम्मेदार परामर्शदाता **मारियन टैल्बट** के अनुसार 1997 के प्रारम्भ में **एससीएए** द्वारा यह पक्के तौर पर स्थापित हो गया था कि फोरम द्वारा चिह्नित किए गए मूल्य ऐसे मूल्य हैं जिन पर प्रत्येक सद्भावनापूर्ण व्यक्ति की सहमति होगी। यह बात **एससीएए** द्वारा करवाए गए विचार-विमर्श से सिद्ध होती है जिस में MORI एजेन्सी द्वारा 1500 वयस्कों के जनमत सर्वेक्षण की प्रक्रिया भी शामिल थी। विमर्श में शामिल किए गए लगभग 95 प्रतिशत लोग उन मूल्यों से सहमत थे जिनका खाका फोरम द्वारा दिए गए वक्तव्य में था' (टैल्बट तथा टेट, 1997 : 3)। फोरम में तथा उससे बाहर करवाए गए इन जनमत सर्वेक्षणों के परिणामस्वरूप **एससीएए** ने तय किया कि वह स्कूलों को अपना मार्गदर्शन आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास के आधार पर निर्मित करेगी- 1988 के एज्युकेशन रिफॉर्म एक्ट के तहत **एससीएए** इस मार्गदर्शन के लिए जिम्मेदार था- और यह 'फोरम के वक्तव्य में रेखांकित मूल्यों के इर्द-गिर्द' होना था (पृ. 9)। **एससीएए** द्वारा स्कूलों से यह सिफारिश भी की गई कि वे 'साझा मूल्यों के अस्तित्व और उनके महत्त्व में भरोसा बैठाएं' (पृ. 9)। इस प्रकार साझा मूल्यों की **एससीएए** की तलाश सीधे तौर पर नीति संबंधी फैसलों में परिवर्तित हो गई है।

जैसा कि पहले कहा गया है, **क्यूसीए** द्वारा स्कूली पाठ्यचर्या के उद्देश्यों के लिए आम राय बनाने की तलाश अन्तिम रूप में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के लिए एक रिपोर्ट के तौर पर सामने आएगी- सीधे स्कूलों के स्तर पर नीति संबंधी कोई बदलाव इस प्रक्रिया में नहीं होंगे। अभी यह स्पष्ट नहीं है कि सेक्रेटरी ऑफ स्टेट द्वारा प्राप्त जानकारी को किस प्रकार प्रयोग में लाया जाएगा।

आम राय बनाने का दृष्टिकोण सेक्रेटरी ऑफ स्टेट द्वारा लिए जाने वाले सम्भावित नीतिगत फैसलों के लिए कहां तक एक ठोस आधार प्रदान करता है ? क्या **एससीएए** द्वारा मूल्यों पर किए गए कार्य से **क्यूसीए** के उद्देश्यों संबंधी कार्य के लिए कोई सबक मिलते हैं ?

आम राय बनाने की प्रक्रिया स्पष्ट तौर पर लोकतांत्रिक जमीन से जुड़ी है। यह एक प्रयास है कि पूरे समुदाय से राय जुटाने के आधार पर वर्गवादी नियंत्रण से बचा जा सके। लेकिन यदि इससे मात्र पृष्ठभूमि संबंधी जानकारियां इकट्ठा करने की बजाए नीति तय करने की मंशा हो तो इसमें कई मुश्किलताएं आएंगी। **एससीएए** के मूल्यों संबंधी कार्य को उदाहरण बना कर कुछ स्थितियों के सन्दर्भ में इन कठिनाइयों को समझा जा सकता है।

वर्गवाद अलविदा ?

मूल्यों पर **एससीएए** का प्रोजेक्ट पूरे समुदाय में आम सहमति बनाने का एक प्रयास था। यह प्रयास दो चरणों में किया गया- पहले 150 लोगों के फोरम में मूल्यों पर चर्चा हुई और फिर फोरम द्वारा सहमति पर आधारित मूल्यों को जनमत सर्वेक्षण के माध्यम से टेस्ट किया गया। यह प्रयास कहां तक सफल रहा ? इस प्रक्रिया में कई ऐसे बिन्दु हैं जहां वर्गीय हितों ने नतीजों को प्रभावित किया होगा।

सर्वप्रथम, फोरम के 150 सदस्यों को चुना जाना था। जैसा कि ऊपर कहा गया है, **एससीएए** के मुताबिक इस फोरम में 'अध्यापन से जुड़े लोग, स्कूल गवर्नर, माता-पिता, शिक्षक प्रशिक्षक, मुख्य धर्मों से जुड़े प्रतिनिधि, कानून से जुड़े लोग, मीडिया, युवा कार्यकर्ता और नौकरी मालिक' शामिल थे। इस सूची को देखें तो उल्लेखनीय है कि इसमें अधिक झुकाव शिक्षा जगत की ओर है। ऐसा क्यों ? यदि 1988 को वर्गाधार पर पेशेवर नियंत्रण के युग के अन्त का साल माना गया तो आशा की जा रही थी कि अब फोरम पूरे समाज का प्रतिनिधित्व करेगा। फोरम के सदस्य यदि शिक्षा जगत के अलावा किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते दिखते भी हैं तो वे हैं धर्म, नौकरी मालिक, वकील और मीडिया से संबद्ध लोग। एक बार फिर- ऐसा क्यों ? क्या इन क्षेत्रों के लोग अन्य सबके मुकाबले नैतिक मूल्यों के संसार की अधिक सूक्ष्म समझ रखते हैं ? अधिकतर मामलों में यह हास्यास्पद

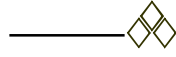
लगेगा। 'समाज के प्रतिनिधि वर्ग' के इस खाते से दो वर्ग उल्लेखनीय ढंग से अलग रखे गए दिखते हैं- मालिकों के बजाए नौकर और सेवानिवृत्त लोग तथा वे सब जो नौकरी-पेशा नहीं हैं।

दूसरी बात- फोरम के मिल-बैठने की शुरुआत के बाद पूरी कार्यवाही को संचालित करने के कुछ तौर-तरीके रहे होंगे और चर्चाओं के अन्त में ही मूल्यों की चार श्रेणियों की सूची निकली होगी जिसे MORI के जनमत सर्वेक्षण के लिए प्रस्तुत किया गया। **एससीएए** के अधिकारियों और सलाहकारों ने इसमें क्या भूमिका अदा की ? जो आंकड़े और जानकारियाँ एकत्र किए गए, वे काफी विविध तथा फैलाव लिए हुए होंगे- इन्हें किस प्रकार संगठित और श्रेणिबद्ध किया गया होगा ? क्या इस प्रक्रिया में **एससीएए** के अधिकारियों और सलाहकारों की अपनी मूल्य संबंधी पसन्द और अधिमान्यताएं प्रतिबिम्बित नहीं हुई होंगी ?

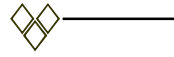
क्यूसीए द्वारा संचालित उद्देश्यों संबंधी प्रयोग में भी समुदाय से बड़े पैमाने पर परामर्श हो रहा है। सभी स्कूलों में प्रश्नावलियां भेजी गई हैं। प्रधानाध्यापकों की राय भी जुटाई गई है। नवम्बर 1997 में माता-पिता, शिक्षार्थियों और नौकरी मालिकों को प्रक्रिया में शामिल करने की योजना है। **एससीएए** के प्रोजेक्ट की ही तरह इस सर्वे के संदर्भ में भी सवाल उठते हैं कि क्या यह पूरी तरह सभी वर्गों की नुमाइंदगी करता है ? अब तक ऐसा कोई संकेत नहीं है कि जनसंख्या के एक बड़े हिस्से से शिक्षा के उद्देश्यों के बारे में उनके विचार लिए जाएंगे- यानी शिक्षा के अलावा क्षेत्रों में कार्य करने वाले लोग तथा वे लोग जो वेतन या मजदूरी पर निर्भर नहीं हैं। **एससीएए** की ही तरह **क्यूसीए** के अधिकारियों द्वारा सूचनाएं एवं आंकड़े इकट्ठा करने का कार्य इस बात से जुड़े सवाल उठाता है कि अनजाने में होने वाले पक्षपात से कैसे बचा जाए ?

उच्चतम साझे तत्त्व की समस्या

आम सहमति बनाने के दृष्टिकोण के चलते यह मानकर चला जाता है कि सभी बिन्दुओं पर सबकी सहमति हो पाना मुमकिन नहीं होगा। कुछ मुद्दों पर सहमति बनेगी, कुछ पर नहीं। आम राय बनाने के पीछे सोच यह है कि असहमति के बिन्दुओं की निशानदेही कर ली जाए। इसका मतलब है कि आम राय में केवल वे बिन्दु शामिल रहेंगे जिन पर न्यूनतम विवाद है- यानी लोगों की प्रतिक्रिया का



आम राय बनाने की प्रक्रिया स्पष्ट तौर पर लोकतांत्रिक जमीन से जुड़ी है। यह एक प्रयास है कि पूरे समुदाय से राय जुटाने के आधार पर वर्गवादी नियंत्रण से बचा जा सके। लेकिन यदि इससे मात्र पृष्ठभूमि संबंधी जानकारियां इकट्ठा करने की बजाए नीति तय करने की मंशा हो तो इसमें कई मुश्किलात आएंगी।



उच्चतम साझे तत्त्व। इस प्रक्रिया से शायद साधारण, फीके किस्म के उद्देश्य ही निकलकर आएंगे। इनमें से कुछ बहुत ही आम, साधारण किस्म की भाषा में लिपटे हुए हो सकते हैं- भाषा जो सटीक न हो। उनकी व्याख्या पर भी तीखे और बुनियादी मतभेद हो सकते हैं, जो शायद खुलकर सामने न आएंगे। जैसे, कल्पना करें कि कुछ प्रतिक्रियाएं वैयक्तिक आत्म-निर्देशन के सिद्धान्त के हक में हों जबकि अन्य लोगों का मानना हो कि शिक्षार्थियों द्वारा ईश्वर के हुक्म की पालना की जानी चाहिए। दोनों ही उद्देश्यों को छोड़ा भी जा सकता है। लेकिन साथ ही इस दावे पर सबकी सहमति भी हो सकती है कि 'स्कूलों द्वारा सभी नौजवानों को

बेहतर शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए'- इस दावे पर शायद ही किसी को एतराज होगा (ऑस्ट्रेलिया में स्कूलों के लिए निर्धारित राष्ट्रीय उद्देश्यों की सूची में यह सबसे पहला उद्देश्य है)। **एससीएए** द्वारा मूल्यों पर सलाह-मशविरे के कार्य की पूरी जानकारियां हमारे पास नहीं हैं- इसलिए यह कहना मुश्किल है कि वहां भी ऐसी ही प्रक्रियाएं काम कर रही थीं या नहीं। लेकिन उल्लेखनीय है कि वैयक्तिक तौर पर आत्म-निर्देशित होने का सिद्धान्त सहमति वाले बिन्दुओं में से एक नहीं था। उदारवादी चिन्तन में यह एक महत्वपूर्ण मूल्य माना जाता है और ब्रिटेन जैसे आधुनिक समाज की बहुसंख्यक आबादी इससे जुड़ाव महसूस करती है। कुछ हद तक तो ऐसा है ही। यानी हममें से अधिकतर यह मानकर चलते हैं कि व्यक्ति विशेष के जीवन के उद्देश्यों, रिश्तों तथा अन्य जुड़ावों के बारे में निर्णय स्वयं लेने की आजादी होनी चाहिए : हमारा समाज परंपरागत किस्म का समाज नहीं है जहां आप स्वयं तय नहीं कर सकते कि किससे विवाह करना है, कैसा पेशा अपनाना है, कहां निवास करना है या किसकी पूजा की जानी है इत्यादि। इस बात के बावजूद कि आत्म-निर्देशित होने से संबंधित यह मूल्य हमारे समाज में प्रचलित है, इसे **एससीएए** की सूची में स्थान नहीं मिला। या फिर क्या हम यह मानें कि इस मूल्य को 'जीवन का अर्थ एवं उद्देश्य खोजने का प्रयास करना' वाले आइटम में ही शामिल मान लिया गया था ? यानी, क्या उदारवादी धर्मनिरपेक्ष लोग इस आइटम को आत्म-निर्देशित होने के मूल्य के रूप में पढ़ और समझ रहे होंगे, इस अर्थ के साथ कि लोग जीवन में अपने उद्देश्यों को स्वयं तलाशते हैं ? दूसरी ओर धार्मिक आस्था के लोग क्या इसकी व्याख्या इस अर्थ के साथ कर रहे थे कि जीवन के कोई दैवीय उद्देश्य और अर्थ होते हैं ?

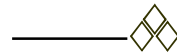
आइए, वापिस उद्देश्यों पर **क्यूसीए** की पहल कदमी की ओर चलें। यदि इस बात से बचने के कोई कदम नहीं उठाए जाते तो आम राय की तलाश हमें सहमति के ऐसे सुव्यवस्थित फार्मूलों तक ले जाएगी जिनमें से कोई ठोस बात न निकलती हो और जो कुछ खास प्रभावशाली भी न हों। ऊपर ऑस्ट्रेलिया के संदर्भ से लिया गया उदाहरण ऐसा ही है। शिक्षा जगत ऐसी परिस्थिति से पहले ही परिचित है। स्कूलों द्वारा दिए गए उद्देश्यों के विवरण ऐसी आम भाषा में लिपटे होते हैं कि स्टाफ के मेम्बरान की असहमतियां और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण छिपे-छिपाए रह जाते हैं। अब जबकि 1988 की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर पुनर्विचार हो रहा है, तो मुद्दा ध्यान देने योग्य है। 1988 के उद्देश्य आध्यात्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक, मानसिक और शारीरिक विकास तथा छात्र-छात्राओं को वयस्क जीवन के मौकों और जिम्मेदारियों के लिए तैयार करने से संबंधित थे। ये उद्देश्य इतने अस्पष्ट और व्यापक किस्म के थे कि वे यह संकेत देने में असफल थे कि उनकी प्राप्ति किस प्रकार अधिक निश्चित, सटीक लक्ष्यों के माध्यम से सुनिश्चित हो पाएगी। **क्यूसीए** की पहल-कदमी से जो भी सुधरे-संशोधित उद्देश्य निकलें, वे अधिक निश्चित और विशेष लक्ष्यों की दिशा में होने चाहिए- ताकि उन्हें व्यावहारिक रूप में साकार किया जा सके।

मैं इस बात को उदाहरण से स्पष्ट करता हूँ। **क्यूसीए** ने विभिन्न देशों के आधिकारिक उद्देश्यों का सर्वे किया। न्यूजीलैंड ऐसे कार्यक्रमों की बात करता है जो 'छात्रों को अपनी संपूर्ण संभावित क्षमताओं को साकार करने में सक्षम बनाए'। इस उद्देश्य की गूँज थोड़ी-सी भिन्न शब्दावली के साथ (जैसे, वाक्यांश 'पूर्ण विकास' का प्रयोग) ऑस्ट्रेलिया, इटली, जापान, सिंगापुर तथा स्पेन के उद्देश्यों में भी सुनाई पड़ती है। ये सभी देश उस उद्देश्य को ऊंचा स्थान देते हैं। लेकिन, सब शिक्षार्थियों द्वारा अपनी संपूर्ण संभावित क्षमताओं को साकार करने के अर्थ क्या है ? क्या इसका यह अर्थ है कि प्रारम्भिक गणित करने वाले, टीम खेल में भाग लेने वाले तथा ठीक-ठाक सी चित्रकारी कर लेने वाले बच्चे को इन क्षेत्रों में, जहां तक उसके लिए सम्भव हो, वहां तक जाने के लिए प्रेरित किया जाए ? यदि हां, तो किस आधार पर इस बात को उचित ठहराया जाए ? यह बात एक व्यक्ति की स्वायत्तता पर अंकुश लगाती हुई

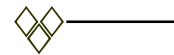
प्रतीत होती है- यह तय करने की स्वायत्तता कि बच्ची अपनी किन प्रतिभाओं को पूर्णरूप से विकसित करना चाहती है, किन प्रतिभाओं को वह कुछ हद तक बढ़ावा देना चाहती है और किन्हें लुप्त हो जाने देना चाहती है। साथ ही- क्या हमें मानकर चलना चाहिए कि शिक्षार्थियों में किसी एक या अन्य क्षेत्र में विकास की 'पूर्ण सम्भावना' होती ही है ? ऐसा कहने के निहितार्थ हैं कि कुछ हासिल करने की भी कुछ हदें होती हैं। क्या हमें यह बात स्वीकारनी चाहिए ? इसके हक में- या इसके विरुद्ध- सबूत क्या हैं ?

'पूर्ण विकास' या 'संपूर्ण सम्भावित क्षमताओं' का यह उद्देश्य हल्के से छूने पर ही बिखर जाता है। शिक्षा जगत में इस उद्देश्य का बहुत मान-सम्मान है- इसका जिक्र उद्देश्यों के संदर्भ में सभी महत्वपूर्ण मौकों पर किया जाता है; चाहे तो प्राथमिक स्कूल के मुख्याध्यापक द्वारा, चाहे फिर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या बनाने वाले किसी व्यक्ति द्वारा। लेकिन इसका थोड़ा-सा भी तार्किक विश्लेषण किया जाए तो इसकी निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। जब इसे अधिक निश्चित रूप में साकार करने की बात हो तो यह उद्देश्य किसी भी विशेष दिशा में जाता हुआ दिखाई नहीं पड़ता। इसलिए, कि इसे इस रूप में साकार किए जाने की मंशा ही नहीं होती; पाठ्यचर्या के संदर्भ में प्रभावी होने के लिए इसकी कल्पना ही नहीं की गई। उद्देश्यों की सूची में तो यह सबसे ऊपर इसलिए दिखाई देता है क्योंकि यह सबको स्वीकार्य प्रतीत होता है- परम्परागत सोच के मुताबिक इसे उद्देश्यों की सूची में होना ही है। इस पर सवाल उठाने को कोई भी तैयार नहीं है।

इस उद्देश्य को ऑस्ट्रेलियाई सूची के एक और उद्देश्य की तुलना में देखिए : 'छात्रों में ऑस्ट्रेलिया की तथा वहां के मूल निवासियों और विभिन्न जातीय समूहों की सांस्कृतिक विरासत की समझ तथा उसके प्रति आदर भाव पैदा करना।' बेशक, यह व्याख्या करना कि इस उद्देश्य को कैसे लागू किया जाए समस्यापूर्ण मसला है। 'सांस्कृतिक विरासत को समझना'- इसे अलग-अलग ढंग से समझा जा सकता है। लेकिन कम से कम एक दिशा तो दिखाई देती है इस उद्देश्य की। यहां कुछ हासिल करने की बात हो रही है- और स्पष्टता के साथ, सटीक तरीके से उसकी निशानदेही की जा सकती है। उस पर विस्तृत बातचीत-बहस भी हो सकती है। 'संपूर्ण



'पूर्ण विकास' या 'संपूर्ण सम्भावित क्षमताओं' का यह उद्देश्य हल्के से छूने पर ही बिखर जाता है। शिक्षा जगत में इस उद्देश्य का बहुत मान-सम्मान है- इसका जिक्र उद्देश्यों के संदर्भ में सभी महत्वपूर्ण मौकों पर किया जाता है; चाहे तो प्राथमिक स्कूल के मुख्याध्यापक द्वारा, चाहे फिर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या बनाने वाले किसी व्यक्ति द्वारा। लेकिन इसका थोड़ा-सा भी तार्किक विश्लेषण किया जाए तो इसकी निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। जब इसे अधिक निश्चित रूप में साकार करने की बात हो तो यह उद्देश्य किसी भी विशेष दिशा में जाता हुआ दिखाई नहीं पड़ता।



सम्भावित क्षमताओं' के उद्देश्य के विपरीत इस उद्देश्य पर काम करने वालों के लिए रास्ता स्पष्ट और खुला हुआ है। ब्रिटेन की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के उद्देश्यों को संशोधित करने वालों को इसी किस्म और स्वरूप के उद्देश्य तय करने चाहिए।

तो, आम राय बनाने वाले दृष्टिकोण की दूसरी मुश्किल है बहुत ही सामान्य-व्यापक किस्म के कथन का लालच- जितनी अधिक विषयवस्तु की शून्यता होगी और परिणाम स्वरूप जितना अधिक उद्देश्य के लागू किए जाने की कठिनाई होगी, उतना ही ऐसे कथनों की स्वीकार्यता अधिक होगी। साथ ही विवादपूर्ण स्थितियां, वे चाहे कितनी ही सुदृढ़ या कमजोर क्यों न हों, छंट जाती हैं।

एक बात और। सूची मात्र से संतुष्ट हो जाने की वजह से आप एक और समस्या से बचाव कर लेते हैं- तरजीह के हिसाब से क्रमबद्ध करने की समस्या से! इतिहास पर कार्य करने वाले समूह द्वारा इतिहास संबंधी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के उद्देश्य 1988 के बाद एक सूची के रूप में पेश किए गए। कुछ आइटम ऐसे उद्देश्यों से संबंधित थे जो इतिहास के विषय से अंतरंग रूप से जुड़े थे- वे भूतकाल के प्रति दिलचस्पी पैदा करने और जिज्ञासापूर्ण खोज की भावना पैदा करने से संबद्ध थे। अन्य आइटम पहचान संबंधी अनुभूति, छात्रों की सांस्कृतिक जड़ों और साझा विरासत से जुड़े थे। स्कूल में इतिहास की शिक्षा संबंधी सोच दो खेमों में बंटी है- कुछ लोग इतिहास की शिक्षा को विषय के स्वभाव के अनुरूप, उसके निहित सार और आत्मा के संदर्भ में महत्त्व देते हैं; दूसरे खेमे के लोग व्यक्तिगत और सामाजिक शिक्षा में इतिहास के योगदान की वजह से इतिहास को महत्त्व देते हैं। इतिहास पर कार्य करने वाले समूह ने सूची को किसी श्रेणीबद्ध क्रम या व्यवस्था में पेश नहीं किया, किन्हीं उद्देश्यों को अन्य से अधिक या कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना- इसीलिए वे इतिहास के प्रति दोनों दृष्टिकोणों के साथ न्याय कर पाए। यह भी एक सम्भावित खतरा है जिसकी ओर **क्यूसीए** की पहल-कदमी में ध्यान देना होगा।

अधिकार संबंधी समस्या

उपरोक्त में से कुछ कठिनाइयों से सिद्धान्त रूप में बचा जा सकता है। इस बात का ध्यान रखा जा सकता है कि जनसंख्या की हिस्सेदारी को और अधिक व्यापक बनाया जाए, प्रत्येक वर्ग को शामिल करते हुए उनकी हिस्सेदारी सुनिश्चित की जाए। अधिकारियों द्वारा बड़ी संख्या में इकट्ठा की गई जानकारीयों को कुछ श्रेणियों में बांधने के काम की निष्पक्ष निगरानी की जा सकती है। ऐसे विवरणों और कथनों की मनाही भी की जा सकती है जो सामान्य किस्म के और अस्पष्ट हों, जिन्हें व्यावहारिकता में लागू किए जाने की बहुत

कम गुंजाइश हो तथा जिन्हें केवल मतभेदों और वैचारिक असहमतियों को छिपाने के मकसद से उल्लेखित किया जाना हो। केवल ऐसे उद्देश्यों का ही उल्लेख किए जाने की इजाजत हो जिनका अधिक निश्चित तौर पर साकार होना सम्भव लगता हो। (कहना होगा कि **एससीएए** द्वारा मूल्यों पर किए गए काम में उसके कई व्यावहारिक सिद्धान्त दूसरी श्रेणी में आते हैं- उदाहरण के तौर पर यह कथन कि समाज को 'न्याय और न्यायिक प्रक्रियाओं को जानने-समझने में लोगों का सहायक होना चाहिए'- या फिर यह कथन कि हमें, 'जहां भी सम्भव हो, मानव विकास की प्रक्रिया में नष्ट हो गए जीव-जन्तुओं के प्राकृतिक आवास स्थानों को फिर से ठीक हालत में लाना चाहिए')। उद्देश्यों को सूची में गिनवा भर देना काफी नहीं होगा : इन उद्देश्यों को शामिल करने के पीछे के विवेक सम्मत कारण भी देने होंगे तथा उनकी वरीयता को स्थापित करना होगा।

इन सुधारों को लागू करने की व्यावहारिक कठिनाई को हमें कम करके नहीं आंकना चाहिए। और ये सुधार कर लिए जाएं तो भी एक तार्किक कठिनाई तो रहेगी- ऐसी आम राय के आधार पर नीतिगत सिफारिश के निर्माण की कठिनाई। आम राय से हमें अनुभव आधारित एक तथ्य मिलेगा- कि जनसंख्या के अमुक प्रतिशत लोगों की मान्यता है कि अमुक श्रेणीबद्ध उद्देश्य अमुक कारणों से स्कूलों के कार्य को मार्गदर्शित करें। लेकिन नीति बनाने वालों को यह जानने की जरूरत है कि इस तथ्य के आधार पर क्या किया जाना चाहिए या क्या करना सबसे बेहतर है। कल्पना कीजिए कि ब्रिटेन की जनसंख्या के 95 प्रतिशत लोग मृत्यु दण्ड के हक में हों- ऐसे में क्या मृत्यु दण्ड देने की नीति को उचित मानकर लागू कर देना ठीक होगा ?

यह समस्या उस आम समस्या का उदाहरण है जिसके तहत अनुभव आधारित तथ्य और नैतिकता पर आधारित कथन में तर्कसंगत अन्तर प्रतीत होता है- इस बारे में कि क्या उत्तम है या इस बारे में कि क्या किया जाना चाहिए।

क्या इस समस्या से निपटा जा सकता है ? मेरे ख्याल से आम राय बनाने के ढांचे के अंतर्गत तो नहीं निपटा जा सकता। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के उद्देश्यों में सुधार की बात एक अलग ही बिन्दु से शुरू करनी होगी। ◆

(अगले अंक में जारी...)

भाषान्तर : रमणीक मोहन